मुद्रक
महेन्द्रनाथ पाण्डेय
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

दो शब्द

हिन्दी में, नाट्य-साहित्य तथा नाट्य-कला की अभिव्यक्ति में बड़ा ही वैषम्य पाया जाता है। इस वैषम्य के दो कारण तो सर्वथा स्पष्ट ही हैं। पहला यह कि आधुनिक शैली पर नाट्य-रचना का अभाव और दूसरा, अधिकांश में, नाटकों का अभिनय करनेवाली पारसी-कम्पनियों-द्वारा नाट्य-कला का संहार। हिन्दी में, नाटक-साहित्य की गति, अर्वाचीन श्रेष्ठ नाटकों से अधिक गतिवान न हो सकी और न ये नाटक धनी तथा श्रेष्ठ कम्पनियों द्वारा ही अपनाये गये। फलतः हिन्दी में, हिन्दी के विद्वानों-द्वारा लिखे गये नाटकों का कोई विशेष समादर न हो सका। हाँ, द्विजेन्द्रलाल राय तथा गिरीश बाबू आदि कतिपय बंगाली लेखकों की रचनाएँ हिन्दी में अनुवादित हुईं तथा उनका यदा-कदा अभिनय भी होता रहा। जयशंकर-प्रसाद ने नाटक लिखकर, हिन्दी के नाटक-साहित्य में विशेष उन्नति की, पर उनके नाटक अत्यन्त क्लिष्ट तथा अत्यन्त साहित्यिक होने के कारण, कुछ ही विद्वानों की आलोचना-प्रत्यालोचना एवं पठन के विषय बने रहे, अभिनय के लिए सर्वथा उपयुक्त न होने के कारण सर्वसाधारण की दृष्टि तक उनपर कम पड़ी। नाट्य-रचना तथा नाट्य-कला की अभिव्यक्ति के इस आकस्मिक विरोध को दूर करने के लिए अब तक ऐसे साहित्य का निर्माण नहीं हुआ जिससे इस अभाव की पूर्ति हो सकती। कहने की आवश्यकता नहीं कि, नाट्य-कला पर, विश्लेषणात्मक साहित्य के उपस्थित होने पर ही यह अभाव दूर किया जाना सम्भव हो सकता है।

कुछ विद्वानों ने हिन्दी में, नाट्य-कला अथवा शास्त्र पर, कुछ ग्रन्थ लिखकर, प्रकाश डाला है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पश्चात् आचार्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने नाट्य-शास्त्र पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखा।

इसमें आचार्य महोदय ने एतद्देशीय नाट्य-शास्त्र के पुरातन सिद्धान्तों की चर्चा की। एक बार, हमारे मध्यप्रान्त के स्वर्गीय विद्वान् साहित्यरत्न पण्डित रघुवरप्रसादजी द्विवेदी ने, श्रीशारदा मासिक-पत्रिका में, मध्य-कालीन योरुप के नाटच-साहित्य पर तुलनात्मक दृष्टि से एक सुगंभीर विवेचन किया। बावू श्यामसुन्दरदास, बी० ए० तथा श्रीयुत पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'रूपक-रहस्य' नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें पौर्वात्य तथा पाश्चात्य, प्राचीन नाटच-साहित्य पर ही अधिक चर्चा की गयी। 'हिन्दी में नाटच-साहित्य का विकास' नामक एक छोटा-सा अधूरा निबन्ध साहित्य-रत्न पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने बहुत जल्दी में लिखा, जिसमें प्राय: प्राचीन नियमों के आधार पर ही अधिक लिखा गया। प्रोफ़ेसर राम-कृष्ण शुक्ल, एम० ए०, 'शिलीमुख' ने जयशंकरप्रसाद की नाटच-कला पर एक ग्रन्थ लिखा जो सर्वथा एकांगी होने के कारण, तुलनामूलक आलो-चना के अतिरिक्त विशेष उपयोगी न हो सका। इसमें भी प्राचीन तथा अर्वाचीन नाटच-कला का समयोचित एकीकरण न हो सका। एक बार हिन्दुस्तानी एकेडेमी की तिमाही पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' में कुमारी गोदा-वरी केतकर ने, भारतीय प्रेक्षागृहों पर एक पाण्डित्यपूर्ण तथा गवेषणा-पूर्ण लेख लिखा। पर, इसमें भी आधुनिक प्रेक्षागृहों अथवा नाटच-गृहों के स्वरूप पर कुछ भी प्रकाश न डाला गया। इस प्रकार हिन्दी-साहित्य में नाटच-कला-विषयक साहित्य पर दृष्टि-निक्षेप करने से यह विदित हो जाता है कि, सम्प्रति, हिन्दी में ऐसा कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, जिसमें नाटच-साहित्य के श्रेष्ठ कलाकारों के ऐसे मत मिल सकें जिनका उपयोग श्रेष्ठ नाटकों को कसौटी पर कसने का एक साधन बन सके। विलियम हेनरी हड्सन प्रभृति विद्वानों के आधार पर हिन्दी के एक-दो विद्वानों ने कुछ विचार प्रकट किये हैं, पर वे भी, देश-भेद के कारण, एतद्देशीय साहित्य की नाटकीय समीक्षा के लिए सर्वांगीण नहीं हो सकते।

मध्यप्रान्त के सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता सेठ गोविन्ददासजी, एम० एल० ए०, को सत्याग्रह आन्दोलन में तीन बार जेल जाने का अवसर मिला। जेल के अनेक काल-व्यापी एकान्तवास ने, उनके बाल्य जीवन से अकुरित होनेवाली, नाटक-रचना की प्रवृत्ति को अधिकाधिक परिस्फुट होने का अवसर दिया। भारतवर्ष की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में प्रकाशित नाटक तथा नाट्य-कला-विषयक साहित्य के अतिरिक्त पाश्चात्य देशों के फ्रांस, इटली, इंग्लैण्ड, ग्रीस, रोम, जर्मनी आदि के श्रेष्ठ नाटककारों के नाट्य-कला पर विभिन्न मतों का अनुशीलन करने के पश्चात् आपने भी श्रेष्ठ नाटक तथा तत्सम्बन्धी कला पर अपना एक स्वतंत्र मत स्थिर कर लिया और इसके उपरान्त, तीनों बार के जेल-प्रवास में आपने छोटे-बड़े, कुल मिलाकर बारह नाटक लिखे। इन बारहों नाटकों में आपने अपने स्वतंत्र तथा मौलिक मत का प्रयोग किया है। आपके तीन नाटक 'कर्तव्य', 'हर्ष' तथा 'प्रकाश' कुछ समय हुए प्रकाशित हो चुके हैं। पहला पौराणिक, दूसरा ऐतिहासिक तथा तीसरा सामाजिक है। इन तीनों नाटकों के मनन से, श्रेष्ठ नाटक-विषयक आपकी विचार-धारा का यथेष्ट परिचय मिल जाता है।

एक अनुभवी विद्वान् तथा नाटक-साहित्य के श्रेष्ठ कलाकार की दृष्टि से, आपने अपने 'तीन नाटक' ग्रन्थ में, एक विवेचनात्मक प्राक्कथन लिखा है। इसमें आपने प्राचीन तथा अर्वाचीन, पूर्वीय एवं पश्चिमीय विद्वानों के विचारों के निष्कर्ष-स्वरूप जो सामञ्जस्य उपस्थित कर दिया है, उसकी कसौटी पर, हिन्दी-साहित्य के नाटकों की सफल परीक्षा हो सकती है। सम्प्रति, सवाक् सिनेमा के इस युग में, नाटक का युग पराजित हुआ-सा दिखायी पड़ता है। पुरानी शैली पर, इस युग में, नाट्य-कला तथा प्रेक्षागृहों में अभिनय करने के योग्य जिस नाटक का निर्माण होगा वह सर्वथा विफल होगा, यह कहने की किञ्चित आवश्यकता नहीं। सेठ गोविन्ददासजी के तीन नाटकों का उपर्युक्त प्राक्कथन, मेरा विश्वास है,

इस दोप के परिहार के लिए सहायक होगा। हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी पाठकगण तथा नाटच-साहित्य का विवेचनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने वाले उच्च शिक्षा के विद्यार्थियों तथा प्रेमियों को, इस विषय पर एक तुलनात्मक मौलिक विचार मिल सकने के लिए, कुछ विद्वानों के अनुरोध से, 'तीन नाटक' ग्रन्थ से उद्धृत करके, यह प्राक्कथन, इस पुस्तिका में 'नाटच-कला-मीमांसा' शीर्षक देकर प्रकाशित किया जा रहा है। पूर्ण विश्वास है, हिन्दी-साहित्य-संसार लेखक के विचारों का समुचित उपयोग करके, उनके परिश्रम को तथा सुदीर्घ काल-व्यापी उनकी चिर साधना को अवश्य ही सार्थक करेगा।

जबलपुर
पौष कृष्ण ३,
सम्वत् १९९२

विनीत
मंगलप्रसाद विश्वकर्मा

नाट्य-कला-मीमांसा

ललित कला

यह बात निर्विवाद है कि सृष्टि में मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ स्थान उसकी ज्ञान-शक्ति के कारण है। विद्वानों ने मनुष्य के ज्ञातव्य पदार्थों को मोटे रूप से दो विभागों में बाँटा है—एक प्राकृतिक और दूसरा कृत्रिम। यहाँ उन्होंने 'प्राकृतिक' और 'कृत्रिम' शब्दों को अत्यन्त व्यापक अर्थ में लिया है। प्राकृतिक विभाग में वे वस्तुएँ ली गयी है जिनके निर्माण में मनुष्य का कोई हाथ नही रहता और कृत्रिम विभाग में वे वस्तुएँ जिनका निर्माण वह स्वयं करता है। कृत्रिम विभाग को विद्वानों ने दो मोटे उप-विभागों मे बाँटा है—एक विज्ञान और दूसरा कला। कला के, हमारे पूर्वीय विद्वानो ने ६४ विभाग किये है, किन्तु मोटे रूप मे इसके भी दो विभाग है। एक वह कला जिसका कोई पार्थिव उपयोग है और दूसरी ललित कला जो अपने सौंदर्य से मनुष्य के हृदय को आनन्द पहुँचाती है। ललित कला का यथार्थ में पार्थिव क्षेत्र ही नही है। उसके दर्शन अथवा श्रवण से मनुष्य के हृदय में भावों की जाग्रति होती है और रस का प्रादुर्भाव होकर उसे आनंद मिलता है। ध्यान रखने की बात यह है कि ललित कला के आनंद को उत्पन्न करनेवाले दो ही मार्ग हैं—आँखें और कान। मनुष्य की पाँचों ज्ञानेन्द्रियो में आँख और कान इन्ही दो इन्द्रियों का पार्थिवता के संग कम से कम प्रत्यक्ष संसर्ग होता है, अतः इनके द्वारा जिन भावों और रस की उत्पत्ति होकर इस रस की चरम सीमा पर जिस आनंद की प्राप्ति होती है, उसकी तुलना हमारे भारतीय प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने मोक्ष-सुख से की है। इसी लिए कलाओ में ललित कलाओं का सर्वोच्च स्थान है। ललित कलाओं के पाँच मोटे उपविभाग किये गये है—शिल्प, मूर्ति, चित्र, संगीत

और काव्य। इनमें काव्य-कला सबसे श्रेष्ठ मानी जाती है। मनुष्य जो कुछ देखता या सोचता है उसे दूसरे के प्रति प्रकट करने की उसकी नैसर्गिक इच्छा होती है। सुन्दरता से इसका प्रकाशन, चाहे वह जिस रूप में भी हो, ललित कला है। किसी वस्तु-विशेप को देखने, सुनने अथवा किसी बात पर विचार करने के पश्चात् मस्तिष्क में कल्पनाएँ उठती हैं, क्योंकि कुछ सीमा तक ही बुद्धि की पहुँच है। जहाँ बुद्धि की पहुँच नहीं है वहाँ मनुष्य केवल कल्पना का आश्रय लेता है। जिन ललित कलाओं का कोई स्थूल आधार है जैसे शिल्प, मूर्ति आदि का पाषाण, धातु, काष्ठ, मृत्तिका इत्यादि, अथवा चित्र का पट आदि; उनके निर्माण में कल्पना को उतनी स्वतंत्रता नहीं मिलती जितनी काव्य-कला में; क्योंकि काव्य-कला का आधार कोई स्थूल पदार्थ न होकर केवल शाब्दिक संकेत है। ललित कलाओं में काव्य-कला के सर्वश्रेष्ठ स्थान माने जाने का यही कारण है।

ललित कलाओं से प्रेम रखनेवाले सभी सज्जन जानते हैं कि ललित कला-विशेषज्ञों में दो दल हैं। एक ललित कला का कार्य केवल मनोरंजन मानता है। उसका मत है कि, 'कला का उद्देश कला ही है' (Art for art's sake)। दूसरा दल कहता है—'कला का कार्य उपदेश देना है।' मुझे कला-विशेषज्ञों में पूर्वीय तथा पश्चिमीय, प्राचीन एवं अर्वाचीन दोनों ही प्रकार के विद्वानों के मत पढ़ने और सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। जहाँ मुझे प्राचीन भारतीय विद्वान् मम्मटाचार्य, विश्वना[illegible] क्षेमेन्द्र और पंडितराज जगन्नाथ आदि तथा प्राचीन यूनानी विद्वान् अफ़ल (Plato) और अरस्तू (Aristotle) इत्यादि के कला-संबंधी विवेचनों अध्ययन का अवसर आया है वहीं मुझे आधुनिक पश्चिमी विद्वान् ज[illegible] के कैन्ट, शैलिंग, हीगल और शोपेनहर, फ़्राँस के वॉल्टेयर, वफ़ीयर [illegible] रास्किन और क्लाइव वैल [illegible]

[illegible]

के संबंध में यह विवाद ही निरर्थक है। जो लोग कला को उपदेश देने का एक साधन मात्र मानते हैं अथवा जो कुछ भी ऊट-पटाँग लिखकर कला का उद्देश कला ही है यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, वे दोनों ही, कला के साथ अन्याय करते हैं। कला धर्म नहीं है कि जिसके द्वारा पद-पद पर उपदेश दिया जावे और न वह ऐसी वस्तु है जिससे मनुष्य का केवल मनोरंजन हो, क्योंकि केवल मनोरंजन तो ऐसा मनोरंजन भी हो सकता है जिसका परिणाम दुःख-प्रद हो। फ्राँस के जगविख्यात साहित्यिज्ञ रोमा रोलाँ ने अपने सर्व-श्रेष्ठ उपन्यास 'ज्याँक्रिस्टोफ़ीन' में एक स्थान पर लिखा है--

"कला के लिए कला! क्या ही अच्छा धर्म है। परन्तु यह धर्म तो वलवानों का है। कला! जीवन को वैसे ही जकड़ कर पकड़ना जैसे गरुड़ अपने शिकार को पकड़ता है, उसे लेकर ऊपर उठना, गगन-मण्डल की अखण्ड शान्ति में उसे लेकर उड़ जाना। इसके लिए तुम्हें सुदृढ़ पंजों, महान् पंखों और वलशाली हृदय की आवश्यकता है। परन्तु, तुम हो क्या? तुम हो मकानों में फुदकनेवाली मामूली चिड़िया, जिसे ज्योंही मांस का नन्हाँ-सा टुकड़ा मिल जाता है त्योंही उस पर इधर-उधर चोंच मारकर, अपनी-सी दूसरी चिड़ियों से लड़ते हुए चेंचें करती है। कला के लिए कला! रे तुच्छ मनुष्य! कला वह मार्ग नहीं है जिस पर अपने को पथिक समझनेवाले सभी चल सकें। इस पर कहा जायगा कि क्यों नहीं, जब कि कला में मजा है, जब कि उसमें सबसे अधिक मस्ती है। परन्तु याद रक्खो, यह वह आनन्द है जो लगातार कड़े से कड़ा युद्ध करने पर ही मिलता है—यह वह विजय-माला है जिसके पहनने का सौभाग्य वलशाली के हृदय को ही प्राप्त होता है। कला का अर्थ है—नियंत्रित, संयमित, मर्यादित जीवन। कला जीवन का सम्राट् है। सीजर के समान सम्राट् होने के लिए सीजर की-सी वलवती आत्मा चाहिए। परन्तु तुम सम्राट् होना तो दूर रहा, साधारण राजाओं की छायामात्र हो। तुम साधारण अभि-

नेता हो, परन्तु इतने कुशल अभिनेता भी नहीं कि अपने अभिनय में अपने को भी भूल सको। जिस प्रकार ये अभिनेता अपनी शारीरिक त्रुटियों तथा दोषों के द्वारा पैसा पैदा करते हैं उसी प्रकार तुम भी अपनी मानसिक तथा आत्मिक त्रुटियों से लाभ उठाते हो। तुम अपनी तथा जनता की कुरूपता का उपयोग कर साहित्य गढ़ते हो। तुम जान-बूझकर तत्परता से अपने देशवासियों की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक बीमारियों, उनकी कायर प्रयत्नहीनता, उनकी शारीरिक सुख की लिप्साओं, उनकी कामुक मनोवृत्तियों, उनकी काल्पनिक मनुष्य-हित-कामनाओं को बढ़ाकर अपना स्वार्थ साधते हो। तुम उन सभी प्रवृत्तियों को, जो इच्छा-शक्ति को कमज़ोर करती हैं, जो कर्मण्यता को खोखला करती हैं, उत्तेजना देते हो। तुम अपने उपदेशों से अपने राष्ट्र के मन को मुर्दा करते हो। तुम्हारे साहित्य के, तुम्हारे उपदेश के मूल में ही मृत्यु है। तुम जानते हो, परन्तु तुम स्वीकार न करोगे। परन्तु, मैं तुमसे कहूँगा कि जहाँ मृत्यु है, वहाँ कला नहीं है। कला तो जीवन का स्रोत है। परन्तु, तुम्हारे सब से अधिक ईमानदार समझे जानेवाले लेखक तक इतने कायर हैं कि उनकी आँखों की पट्टी खुल जाने पर भी वे न देख सकने का बहाना करते हैं। वे धृष्टतापूर्वक कहते हैं—'हाँ, कला के लिए कला का सिद्धान्त खतरनाक है, ज़हरीला है, परन्तु उसमें बुद्धि है, प्रतिभा है।' वाह! कितना विचित्र तर्क है—मानों किसी गुण्डे को सजा सुनाते हुए न्यायाधीश कहे कि—'यह पापी अवश्य है, परन्तु इसमें बड़ी बुद्धि है, बड़ी प्रतिभा है'।"

रोमा रोलाँ महोदय के मतानुसार कला के निर्माण में कलाकार को कितना ऊँचा उठना होगा यह लिखने की आवश्यकता नहीं है, तथा इस प्रकार की कला प्रत्यक्ष में उपदेश न देते हुए भी अपने प्रेक्षकों अथवा श्रवण-कर्ताओं को किस ओर और कितना ऊँचा उठाकर ले जायगी यह भी

इस प्रथम और प्रधान कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् कलाजन्य वस्तुओं में कौन महान् है, इसे तौलने के लिए हमें अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। कोई कहेगा कि जिस वस्तु में अत्यधिक मौलिकता हो वही महान् समझी जानी चाहिए, कोई यह भी कह सकता है कि जिसके द्वारा सबसे अधिक मनोरंजन हो वही श्रेष्ठ है और कोई यह भी विचार सकता है कि जिससे सबसे अधिक शिक्षा मिले वही सबसे अच्छी कला है। इस संबंध में इँग्लेंड के जग-विख्यात तत्ववेत्ता जॉन रास्किन ने अपने 'माडर्न पेन्टर्स' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में एक स्थान पर कलाजन्य उत्तम वस्तु की जो व्याख्या की है वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं —

"अब मैं उत्तम कलाजन्य वस्तु की व्याख्या इतने व्यापक रूप से करना चाहता हूँ कि उसके अन्तर्गत उसके समस्त विभाग और उद्देश आ जावें। इसीलिए मैं यह नहीं कहता कि वही कलाजन्य वस्तु सर्वोत्तम है जो सबसे अधिक आनंद देवे, क्योंकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित् शिक्षा देना हो और आनंद देना न हो। मैं यह भी नहीं कहता कि कलाजन्य वही वस्तु सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे अधिक शिक्षा देवे, क्योंकि किसी वस्तु का उद्देश कदाचित् आनंद देना ही हो और शिक्षा देना न हो। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि कलाजन्य वही वस्तु सबसे अच्छी है जिसमें सबसे अधिक अनुकरण किया गया हो, क्योंकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो, जिसका उद्देश नवीनता का निर्माण करना हो और अनुकरण करना न हो। और मैं यह भी न कहूँगा कि कलाजन्य वही वस्तु सर्वोत्कृष्ट है जिसमें सबसे अधिक नवीनता हो, क्योंकि कदाचित् कोई वस्तु ऐसी हो जिसका उद्देश अनुकरण करना हो और नवीनता का निर्माण नहीं। मैं तो उस वस्तु को कला की सबसे महान् वस्तु मानता हूँ जो किसी भी मार्ग-द्वारा हृदय में सबसे अधिक और सबसे महान् विचारों को उत्पन्न कर सके।"

जीवन के सर्वोत्कृष्ट उद्देश के संबंध मे एक बात कही है तो दूसरे काल के तत्ववेत्ताओ ने उसके ठीक विपरीत। किसी समय यदि मनुष्य-जीवन का सर्वप्रधान ध्येय ईश्वर-प्राप्ति रहा है तो किसी समय ईश्वर के अस्तित्व पर ही सबसे अधिक कुठाराघात हुआ है। किसी काल मे यदि समाज के सामूहिक जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न मनुष्य-जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष माना गया है तो किसी काल मे व्यक्तिगत जीवन की उन्नति ही सबसे प्रधान बात। जिस समय में, जिस प्रकार के विचार की प्रधानता रही है उस समय के कलाकारो की कृति भी उसी विचार के अनुरूप निर्मित हुई है। बात यह है कि जिस काल मे मनुष्य उत्पन्न होता है, जिस वायुमण्डल में उसका लालन-पालन और शिक्षण होता है, उसका मस्तिष्क और हृदय उसी काल एव उसी वायुमण्डल के अनुसार बन जाता है तथा उसकी छाप उसकी कृतियो मे रहती है; यहाँ तक कि यदि उससे वह बचना चाहे तो भी बच नही सकता। इसीलिए कला को मनुष्य-समाज का चित्र भी कहा जाता है और प्रत्येक कलाकार की कृति मे हमें उसके समय के समाज का किसी न किसी प्रकार का चित्र अवश्य ही देखने को मिलता है।

इस प्रकार यद्यपि मनुष्य-जीवन और कला के सर्वोत्कृष्ट उद्देश के संबंध मे एक ही बात कहा जाना सभव नहीं है तथापि प्रत्येक कलाकार को अपने मतानुसार मनुष्य-जीवन और उसके साथ ही, अपनी कृति का कोई न कोई उद्देश निश्चित तो करना ही पडता है।

ससार में अब तक किये गये समस्त अनुसन्धानो मे मेरी दृष्टि से देश, काल और पात्र के परे सबसे बडा अनुसन्धान वेदान्त के 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' महावाक्य में भरा हुआ है। 'सभी ब्रह्म है' इससे बडे सत्य का मनुष्य अब तक पता नही लगा पाया है। समस्त सृष्टि एक ही तत्व है, यह वैज्ञानिको की भी सबसे बड़ी खोज है। इसका अनुभव करना ही मै मनुष्य का सबसे बडा ज्ञान मानता हूँ। जब तक यह पचभूतमय शरीर है तब तक

मनुष्य क्षणमात्र भी कर्म किये बिना नही रह सकता। इस अनुभव के पश्चात् मनुष्य वैसे ही कर्म करेगा जो सबके लिए हितकारी हो, क्योकि समस्त सृष्टि मे एकता का अनुभव होने के पश्चात् अपना-पराया यह भेद-भाव उसके लिए रह ही नही जायगा एवं जिस प्रकार अपनी भलाई में दत्तचित्त रहना मनुष्य का स्वभाव है उसी प्रकार समस्त सृष्टि की भलाई में दत्तचित्त रहना उसका स्वभाव हो जायगा। और, आगे बढ़कर यह कर्म जब वह निष्काम होकर करेगा तब उसके लिए दु.ख भी न रहेगा और वह सदा आनन्द का उपभोग करता रहेगा। 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' ज्ञान का अनुभव, इस अनुभव के अनुरूप समस्त के उपकार में दत्तचित्त रहनेवाला कर्म और इस कर्म को निष्काम कर, आनंद का उपभोग ही मै मनुष्य-जीवन का सर्वोत्कृष्ट उद्देश मानता हूँ; तथा जो ललित कला मनुष्य को अपने सौंदर्य-द्वारा उसके हृदय मे भावों और रसों का प्रादुर्भाव कर उसे आनंद देते हुए इस आदर्श को प्राप्त करने में सहायता पहुँचाती है उसीको सर्व-श्रेष्ठ ललित कला।

इस प्रकार की ललित कला की नीव 'आदर्शवाद' (Idealism) ही रहेगा, परन्तु आदर्शवाद की नीव पर स्थित रहते हुए भी इस कला का बाह्य स्वरूप 'यथार्थवादी' (Realistic) होना आवश्यक है। बात यह है कि आदर्शवाद जब तक यथार्थवाद से ढँका हुआ न हो तब तक वह मनुष्य की पहुँच की वस्तु नही रहता और अस्वाभाविक हो जाता है। इस प्रकार के आदर्शवाद से ऊब उठने के कारण ही पश्चिम ने यथार्थवाद की शरण ली। इँग्लेण्ड और फ़्रांस के जगप्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर और मोलियर के समय से वहाँ की रचनाओं का यथार्थवादी होना आरंभ हुआ और इँग्लेण्ड के प्रसिद्ध उपन्यासकार डिकिन्स और थैकरे के समय यह यथार्थवाद पराकाष्ठा को पहुँच गया। परन्तु, जिस प्रकार यथार्थवाद से ढँके रहने के बिना, आदर्शवाद मनुष्य की पहुँच के परे की वस्तु होकर अस्वाभाविक हो जाता है, उसी प्रकार आदर्शवाद

की नींव के बिना यथार्थवाद भी पोचा रहता है। नार्वे के जगप्रसिद्ध नाटककार इब्सन ने इस यथार्थवादी शैली में परिवर्तन कर 'स्वाभाविकवाद' (Naturalism) को जन्म दिया, जिसके भीतर यद्यपि आदर्शवाद लहरें लेता रहता है परन्तु उसका वाह्य स्वरूप यथार्थवादी रहता है। इब्सन के पश्चात् पश्चिम के प्रायः सभी प्रसिद्ध लेखक इसी प्रणाली पर चले हैं। स्वीडन के स्ट्रेन्डवर्ग, रूस के टॉल्सटाय, फ़्रॉन्स के रोमा रोलाँ, जर्मनी के टामसमैन और इँग्लेण्ड के वर्नार्ड शा आदि सभी इसी प्रणाली के लेखक रहे हैं और हैं।

नाटक

ललित कलाओं में जिस प्रकार काव्य-कला का सर्वोच्च स्थान है उसी प्रकार काव्य-कला में दृश्य-काव्य का। श्रव्य-काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्य के श्रेष्ठ होने का यह कारण तो है ही कि जहाँ श्रव्य-काव्य केवल कानों द्वारा आनंद देता है वहाँ दृश्य-काव्य कानों और आँखों दोनों मार्गों द्वारा; परन्तु इसीके साथ दृश्य-काव्य का स्थान ऊँचा होने का यह कारण भी है कि उसमें पाँचों ललित कलाओं का इकट्ठा समावेश रहता है। नाटक में जो दृश्य दिखाये जाते हैं उनसे शिल्प, मूर्ति और चित्र-कला के देखने का आनन्द मिलता है, एवं नृत्य, गायन और कथोपकथन से संगीत और काव्य का।

भारतवर्ष में नाट्यशास्त्र पर सबसे पहला ग्रन्थ भरत मुनि का मिलता है। यद्यपि पाणिनि के व्याकरण में नाट्य-शास्त्र के शिलालिन्द और कृशांश्व दो आचार्यों के नाम मिलते हैं, परन्तु उनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। भरत मुनि के ग्रन्थ में इस कला का विवेचन इतनी वारीकी से किया गया है कि इसके पूर्व इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये होंगे इसका सहज में अनुमान हो सकता है।

नाटक में अभिनय करनेवाला किसी अन्य व्यक्ति का रूप धारण कर, उसके अनुसार आचरण करता है इसलिए भरत मुनि ने नाटक का उपयुक्त

नाम 'रूपक' रख उसके दो विभाग 'रूपक' और 'उपरूपक' कर, रूपक के दस और उपरूपक के अठारह भेद किये हैं और नाटक के तीन प्रधान अंग कहे हैं—वस्तु (कथा), नेता (नाटक का नायक) और रस।

भरत मुनि ने इन तीनों अंगों का बड़ा विशद वर्णन और विश्लेषण किया है। उनके कथन का संक्षिप्त विवेचन नीचे किया जाता है।

वस्तु के दो प्रकार हैं—'मुख्य' और 'प्रासंगिक'। 'बीज' और 'कार्य' वस्तु की दो सीमाएँ हैं। बीज कथा का आरंभ है और कार्य परिणाम। आरंभ और परिणाम के बीच में संघर्ष की तीन अवस्थाएँ हैं—'बिन्दु', 'पताका' और 'प्रकरी'। बिन्दु में बीज का अंकुर दिखायी देता है और बिन्दु नाटक को क्रमबद्ध रखने के लिए अन्त तक विद्यमान रहता है; पताका और प्रकरी मुख्य कथा के अन्तर्गत बड़ी और छोटी कथाएँ हैं। वस्तु के ये विभाग 'अर्थ-प्रकृति' कहे जाते हैं। इसी प्रकार वस्तु की नाटकीय गति के पाँच विभाग हैं—'आरंभ', 'प्रयत्न', 'प्राप्त्याशा', 'नियताप्ति' और 'फलागम'। जहाँ एक विभाग की समाप्ति और दूसरे विभाग का आरंभ होता है उस स्थल को 'सन्धि' कहा है। सन्धि पाँच हैं—'मुख', 'प्रतिमुख', 'गर्भ' 'अवमर्श' और 'उपसंहृति' या 'निर्वहण'। मुख-सन्धि के १२ अंग; प्रतिमुख, गर्भ अवमर्श के १३ अंग तथा उपसंहृति अथवा निर्वहण सन्धि के १४ अंग माने गये हैं। इनका प्रयोग छः निमित्तों से किया जाता है—'इष्टार्थ, गोप्य-गोपनार्थ, प्रकाशनार्थ, रागार्थ, आश्चर्यार्थ और वृत्तान्तार्थ।' प्रासंगिक वस्तु के दो विभाग हैं; (१) जो बातें अभिनय के समय रंगमंच पर दिखाना चाहिए और (२) जिन बातों की सूचनामात्र कर देनी चाहिए।

नेता के सम्बन्ध में भरत मुनि का कथन है कि नेता 'धीरललित, धीरोद्धत, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त', इन चारों में से किसी एक प्रकार का होना चाहिए।

[illegible] का वर्णन किया गया है।

ये वृत्तियाँ चार प्रकार की मानी गयी हैं—'भारती', 'कौशिकी', 'सात्वती' और 'आरभटी'। प्रत्येक वृत्ति के चार अंग हैं और उन अंगों के अनेक उपांग। यह सारा कार्य नाटक के पात्र 'आंगिक' अर्थात् अभिनय, 'वाचिक' अर्थात् कथोपकथन, 'आहार्य' अर्थात् वेश-भूषा और 'सात्विक' अर्थात् हास्य, रुदन आदि द्वारा करते हैं। कथोपकथन तीन प्रकार से होता है—'श्राव्य', (जो सब सुन सकते हैं), 'अश्राव्य' (स्वगत्, अँगरेज़ी में इसे 'सॉलीलॉकी' कहते हैं) और 'नियत श्राव्य' (जिसे कुछ पात्र सुन सकते हैं और कुछ नहीं; अँगरेजी में जिसे 'एसाइड' कहते हैं)। नियत श्राव्य के दो भेद हैं—पहला 'अपवारित' और दूसरा 'जनांतिक'। अपवारित छिपी हुई बात का नाम है और जनांतिक दो पात्रों का गुप्त संभाषण।

इसके पश्चात् रसों का वर्णन है। सभी जानते हैं कि भारतीय साहित्यिज्ञों ने ९ रस माने हैं जिनकी उत्पत्ति उनके ९ स्थायी भाव, ३३ संचारी या व्यभिचारी भाव एवं विभाव और अनुभाव के मिश्रण से होती है। काव्य के इस रसास्वादन का आनंद भरत मुनि ने ब्रह्मानंद का सहोदर माना है।

ऊपर मैंने भरत मुनि के नाटक लिखने की पद्धति (technique) का संकेतमात्र किया है। यथार्थ में उनके मतों का विवेचन एक दो पृष्ठों में करने का प्रयत्न हास्यास्पद है। नाटककारों को भरत मुनि के ग्रन्थ का मनन आज भी आवश्यक है। परन्तु मैं एक बात और भी कह देना आवश्यक समझता हूँ कि समय में महान् परिवर्तन हो जाने के कारण यदि आज कोई नाटककार केवल इस प्राचीन भारतीय पद्धति का आश्रय लेकर नाटक रचना करेगा तो वह सफल नहीं हो सकता। इस संबंध में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र ने जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। बाबू साहब अपने एक निबन्ध में लिखते हैं—

"नाट्य-कला-कौशल दिखाने को देश-काल और पात्रगण के प्रति विशेष रूप से दृष्टि रखनी उचित है। पूर्व काल में लोकातीत असंभव

कार्य की अवतारणा सभ्यगण को जैसी हृदयग्राहिणी होती थी, वर्तमान काल में नहीं होती। अब नाटकादि दृश्य-काव्य में अस्वाभाविक सामग्री परिपोषक काव्य सहृदय सभ्य मण्डली को नितान्त अरुचिकर है। इसलिए स्वाभाविकी रचना ही इस काल के सभ्यगण की हृदयग्राहिणी है। इसमें अब अलौकिक विषय का आश्रय करके नाटकादि दृश्य-काव्य प्रणयन करना उचित नहीं है। अब नाटक में कहीं 'आशी' प्रभृति नाट्यालंकार, कहीं 'प्रकरी', कहीं 'विलोचन', कहीं 'संफेट', कहीं 'पंच संधि' आदि ऐसे ही अन्य विषयों की कोई आवश्यकता नहीं रही। संस्कृत नाटक की भाँति हिन्दी नाटक में इनका अनुसन्धान करना, या किसी नाटकांग में इनको यत्नपूर्वक भरकर हिन्दी नाटक लिखना व्यर्थ है।"

मैं भारतेन्दुजी से बहुत दूर तक सहमत हूँ, फिर भी मैं इतना अवश्य मानता हूँ कि प्राचीन पद्धति के मनन से आधुनिक काल में भी श्रेष्ठ नाटक के प्रणयन में बहुत सहायता मिलती है।

नाट्य-कला पर पश्चिम का सर्व प्रथम ग्रन्थ यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू का लिखा मिलता है। इस ग्रन्थ का नाम 'पोइटिक्स' (Poetics) है। भरत मुनि के काल के संबंध में हम केवल अन्दाज लगाते हैं, और विद्वानों का कथन है कि नाट्य-शास्त्र पर भरत मुनि का ग्रन्थ संसार का सबसे पुराना ग्रन्थ है। परन्तु, विद्वानों ने अरस्तू का काल निश्चित किया है। उनका जन्म ईसा के ३८४ वर्ष पूर्व हुआ और मृत्यु ईसा के ३२२ वर्ष पूर्व। विद्वानों का मत है कि अरस्तू ने इस ग्रन्थ को ईसा के ३३० वर्ष पहले लिखा था। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जिस प्रकार भरत मुनि ने वस्तु, नेता और रस को प्रधानता दी है उसी प्रकार अरस्तू ने भी 'प्लॉट' (वस्तु), 'हीरो' (नेता) और 'इमोशन' (रस) इन्हीं तीन बातों को प्रधान माना है। अरस्तू ने नाटकों को दो विभागों में बाँटा है—'ट्रेजिडी' और 'कॉमिडी'। आजकल ट्रेजिडी का अर्थ दुःखान्त और कॉमेडी का अर्थ सुखान्त किया जाता है। किन्तु प्राचीन यूनान में इनका इतना ही अर्थ न

था। प्राचीन भारतीय नाट्य-कला में दु:खान्त नाटकों को अवश्य स्थान न था, किन्तु यूनानी ट्रेजिडी में जिस इमोशन या रस का प्रादुर्भाव होना है वह प्राचीन भारतीय नाट्य-कला में भी पूर्ण रूप से विद्यमान है। फिर भी इतना मानना ही होगा कि यूनानी ट्रेजिडी में जिस प्रकार नाटक का अन्त दु:ख में होता है उसका प्राचीन भारतीय नाट्य-कला में निषेध किया गया है।

प्लॉट (कथा) के संबंध में अरस्तू ने लिखा है—

"नाटक मनुष्य का नहीं, किन्तु उसके जीवन की कृति का अनुकरण है। जीवन कृतिमय है। जीवन का अन्तिम ध्येय उसकी विशेष प्रकार की कृति है, न कि उसका गुण। मानव-चरित्र उसके गुणों से बनता है, परन्तु मनुष्य का सुख-दुःख उसकी कृति पर निर्भर है। अतः नाटक, चरित्र का अनुकरण करने के लिए कृति का अनुकरण नहीं करता, परन्तु कृति के अनुकरण के अन्तर्गत चरित्र का अनुकरण आ जाता है। इस प्रकार नाटक का अन्तिम ध्येय कृति एवं कथानक है और अन्तिम ध्येय यही महत्व की बात है।"

हीरो (नेता) के संबंध में अरस्तू ने लिखा है—

"वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो अत्यन्त नामांकित तथा समृद्धिशाली हो।"

भरत मुनि का नेता अरस्तू के नेता से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है।

अरस्तू ने भी नाटक का कार्य इमोशन (रस) का प्रादुर्भाव माना है। यह उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट हो जाता है।—

"ट्रेजिडी से 'emotion of pity and terror' अर्थात् करुण और भयानक-रस तथा कॉमेडी से 'emotion of laughter' अर्थात् हास्य-रस की उत्पत्ति होनी चाहिए।"

इस प्रकार हम देखते है कि नाट्य-कला के आरंभिक काल में पूर्व के प्रधान सभ्य देश भारत और पश्चिम के प्रधान सभ्य देश यूनान के विद्वानों-

द्वारा निर्धारित व्यापक तत्वों में विशेप मत-भेद नहीं है। परन्तु, भारतेन्दुजी के कथनानुसार जिस प्रकार प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुसार वर्तमान काल में सफल नाटकों की रचना नहीं हो सकती उसी प्रकार प्राचीन यूनानी पद्धति से भी वर्तमान काल के नाटक नहीं लिखे जा सकते। हाँ, नाटककारों के लिए भारतीय पद्धति के सदृश ही यूनानी पद्धति का ज्ञान भी आवश्यक अवश्य है।

भरत मुनि और अरस्तू के पश्चात् दोनों दिशाओं में नियमबद्धता का काल उपस्थित हुआ। भरत मुनि के पश्चात् भारतीय विद्वानों ने यहाँ की नाट्य-कला को छोटे-छोटे नियमों से बाँधा और रोम के होरेस (Horace) नामक विद्वान् ने अपने ग्रन्थ 'दी एपीसल टु दि पिसास' (The Epistle to the Pioses) द्वारा पश्चिमी नाट्य-कला को बड़े नियमों से जकड़ा। इसका यह फल हुआ कि अनेक शताब्दियों तक दोनों दिशाओं में, मशीन-द्वारा बनायी हुई वस्तुओं के समान, एक सदृश नाटकों की रचना होती रही।

ईसा के पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में पश्चिम में, शेक्सपियर और [illegible] ने इस नियमबद्धता को तोड़ा और इन दोनों महान् नाटककारों के पश्चात् नाट्य-कला पर इंग्लैण्ड में ड्रायडन ने जो महान् ग्रन्थ 'एसे आफ दि ड्रैमेटिक पोयसी' (Essay of the Dramatic Poesie) लिखा, उससे पश्चिम की इस नियमबद्धता का अन्त हुआ। यह ग्रन्थ [illegible] के अध्ययन की वस्तु है। भारत में आधुनिक काल में [illegible] ग्रन्थ के सदृश किसी ग्रन्थ का निर्माण नहीं हुआ, पर [illegible] नाटककारों ने भी प्राचीन नियमों की अवहेलना कर [illegible] किया है।

[illegible] के पश्चात् पश्चिम में ना[illegible] हुआ। [illegible] ने जिस पद्धति से [illegible], फ्रांस के [illegible], ज

के हाप्टमेन, रूस के शिकाव, अमेरिका के नील, आयरलैण्ट के सिन्जे और इंग्लैण्ड के वर्नार्ड शा, गाल्सवर्दी, वैरी आदि ने अनुसरण किया है और मेरे मत से भारतीय परिस्थिति के अनुसार उचित परिवर्तन कर उसी पद्धति का अनुसरण भारतवर्ष में भी आवश्यक है। कतिपय लेखकों ने यह अनुसरण अब आरंभ भी कर दिया है।

पूर्वीय तथा पश्चिमीय, प्राचीन एवं आधुनिक विद्वानों के मतों का संमिश्रण कर यदि हम उसका निचोड़ निकालें तो मेरे मतानुसार, उत्तम और सफल नाटक में निम्नलिखित बातों का होना आवश्यक है—

नाटक में सर्वप्रथम किसी 'विचार' (Idea) की आवश्यकता है। विचार का अर्थ यहां साधारण विचार न होकर जीवन की कोई समस्या है। विचार की उत्पत्ति के पश्चात् उस विचार के विकास के लिए 'संघर्ष' (Conflict) अनिवार्य है। संघर्ष वाह्य और आन्तरिक दोनों ही प्रकार का आवश्यक है। वाह्य संघर्ष किसी एक व्यक्ति के साथ दूसरे व्यक्ति का अथवा किसी एक व्यक्ति के साथ समाज या राष्ट्र का अथवा पुरुषवर्ग के साथ स्त्रीवर्ग का हो सकता है। आन्तरिक संघर्ष एक ही व्यक्ति के हृदय का संघर्ष है। इसे वाह्य संघर्ष से अधिक महत्व है। यह संघर्ष एक भाव के साथ दूसरे भाव तक का होता है और प्रतिक्षण इसमें परिवर्तन होता है। नाटक में, यहीं, मनोविज्ञान को अपना कार्य करने का अवसर मिलता है। इस विचार और संघर्ष की संबद्धता और मनोरंजकता के लिए 'कथा' (Plot) की सृष्टि होती है। कथा बिना पात्रों के नहीं हो सकती, अतः पात्रों का प्रादुर्भाव तथा उनका चरित्र-चित्रण होता है और चूंकि नाटक की कथा लेखक-द्वारा नहीं कही जा सकती इसलिए पात्रों की कृति और कथोपकथन ही उस कथा के कथन के साधन हैं।

जिस नाटक में जितना महान् विचार होगा, जितना तीव्र संघर्ष होगा, जितनी संगठित एवं मनोरंजक कथा होगी, जितना विशद चरित्र-चित्रण

दैवी पात्रों का समावेश, उन नाटकों को छोड़कर जिनमें स्वप्न दिखाया जाता है, अब अस्वाभाविक है; परन्तु इसके स्थान पर अब एक नवीन उपाय की सृष्टि हुई है। वह है नाटक के प्रधान विचार, पात्र अथवा घटना से नाटक के सर्वथा बाहर की किसी विशिष्ट वस्तु का सामंजस्य या सादृश्य; जिसे अँगरेज़ी में 'सिंबालिज़िम' (Symbolism) कहते हैं। इब्सन के 'वाइल्ड डक' और 'लेडी फ्रॉम दि सी' नाटकों में यही किया गया है। इस सामंजस्य या सादृश्य से समस्त नाटक पर एकता की स्थापना में बहुत सहायता मिलती है।

उपकथा और प्राकृतिक वर्णन का इस वायुमण्डल की स्थापना के लिए अभी भी उपयोग किया जा सकता है।

जिस प्रकार सृष्टि में हर वस्तु का आरंभ, विकास और अन्त होता है उसी प्रकार नाटक का भी। नाटक किस स्थान पर आरंभ हो और विकास के पश्चात् उसका कहाँ अन्त हो इस पर बहुत अधिक ध्यान रखना आवश्यक है। उपन्यास या कहानी आदि के सदृश नाटक का आरंभ, विकास और अन्त नहीं हो सकता। इसके दो प्रधान कारण हैं—पहला यह कि उपन्यास या कहानी में लेखक पात्रों के कथोपकथन के अतिरिक्त अपनी ओर से भी बहुत कुछ कह सकता है; दूसरा यह कि पहले हो चुकी [illegible] वर्णन उपन्यास या कहानी में पीछे से भी किया जा सकता है। नाटक [illegible] बातें सम्भव नहीं हैं। फिर नाटक प्रदर्शन की वस्तु है अतः उस[illegible] की शिथिलता को भी स्थान नहीं मिल सकता। अतः संघर्ष से ही नाटक का आरंभ होना सर्वोत्तम है। विकास के अनन्तर अन्त या तो जिस स्थल पर विषय पूर्ण विकास (Climax) पर पहुँचे वहाँ होना चाहिए, या पूर्ण विकास के पश्चात् उपसंहार के लिए यदि कुछ कहना हो तो उपसंहार के अनन्तर। आजकल नाटकों का अन्त किस प्रकार होता है इस संबंध में बर्नार्ड शा का निम्नलिखित वक्तव्य पढ़ने योग्य है—

"सुख में या दुःख में नाटक के अन्त करने की प्रथा अब निरुपयोगी

हो गयी है। ज्यों ही नाटककार अचानक हो जानेवाली घटनाओं को छोड़ कर जीवन में नित्य होनेवाली घटनाओं के आधार पर रचना आरंभ करता है, त्यों ही वह 'अन्त रहित' नाटकों को लिखता है। नेता के विवाह या वध के दृश्य पर यवनिका का पतन नहीं होता; परिणाम समझने के लिए पर्याप्त चरित्र-प्रदर्शन होते ही यवनिका-पतन हो जाता है।"

परन्तु, ध्यान रहे, उपर्युक्त समस्त बातों के होते हुए भी यदि किसी नाटक में 'रस' या 'इमोशन' का प्रादुर्भाव न हो तो वह कला का कोई उत्तम नमूना नहीं कहा जा सकता। यह लिखने की आवश्यकता नहीं है कि रस की उत्पत्ति विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से युक्त स्थायी भाव के व्यंजित होने से होती है। नाटक पढ़ने और देखने दोनों की वस्तु है और चूँकि नाटक श्रवणेन्द्रिय और दृश्येन्द्रिय दोनों ही मार्गों से हृदय के भावों को उद्दीप्त करता है इसलिए श्रव्य-काव्य की अपेक्षा नाटक में रस का परिपाक कहीं अधिक सफलता से हो सकता है, किन्तु इस सफलता को प्राप्त करना सरल नहीं है। थोड़ी-सी असावधानता से ही नाटक में रस-भंग होने का भय रहता है। यही कारण है कि अनेक नाटक जो पढ़ने में अच्छे जान पड़ते हैं वे रंगमंच पर सफल नहीं होते और जो रंगमंच पर सफल होते हैं उनमें पढ़ते समय तो कोई विशेषता नहीं दिखती। रंगमंच पर घटनाएँ इतनी तीव्रता से घटित होती हैं कि मन को विचार करने का बहुत थोड़ा अवसर मिलता है और पढ़ते समय विचार की मात्रा अधिक रहती है। रंगमंच पर घटना-प्रधान या दूसरे शब्दों में 'वस्तु' या 'प्लॉट' प्रधान नाटक अधिक सफल होते हैं और पढ़ते समय भाव-प्रधान। भावों के समावेश के लिए घटना की गति को यदि कम किया जाता है तो प्रदर्शन में शिथिलता आती है और घटना की यदि तीव्र गति रखी जाती है तो भावों के समावेश को समय नहीं मिलता। इसीलिए बहुत थोड़े नाटक ऐसे पाये जाते हैं जो प्रदर्शन के समय जन-समुदाय को संतुष्ट करें और साथ ही उच्च भावों से भी भरे हों। भावों की उच्चता के बिना साहित्य की

कोई भी वस्तु स्थायी महत्व की नहीं हो सकती। दोनों बातों का उचित मिश्रण कुशल नाटककार ही कर सकता है।

उत्तम नाटक रचने के लिए कला और काव्य-कला की व्यापक बातों पर ध्यान रखने के अतिरिक्त यथार्थ में और कोई नियम उपयोगी नही हो सकते। जीवन-संबंधी समस्याओं का मनन, मनोविज्ञान का ज्ञान, संसार का अनुभव और लेखक की प्रतिभा ही नाटक-रचना के प्रधान साधन है। हाँ, एक बात के संबंध में नियम अवश्य उपयोगी है, वह है—स्वाभाविकता। नाटकों के प्रदर्शन के कारण उनमें अत्यधिक स्वाभाविकता नितान्त आवश्यक है। पश्चिम ने इस संबंध में महान् उन्नति की है। हमारे यहाँ के अनेक अच्छे नाटक इस पर ध्यान न दिये जाने के कारण सर्वथा भ्रष्ट हो गये हैं, अतः स्वाभाविकता के विषय में, मैं यहाँ कुछ विस्तार से लिखना आवश्यक समझता हूँ।

नाटकों की स्वाभाविकता

यह पहले लिखा जा चुका है कि स्वाभाविकवाद (Naturalism) का आरम्भ पश्चिम में नार्वे के जगप्रसिद्ध नाटककार इब्सन से हुआ है। स्वाभाविकता लाने के लिए इब्सन ने अपने पीछे से लिखे हुए नाटकों में दो प्रधान बातें की हैं। पहली यह कि उन्होंने 'अश्राव्य' और 'नियत श्राव्य' दोनों प्रकार के स्वगत्-कथनों का, नाटकों से पूर्णतः बहिष्कार कर दिया; अर्थात् एक तो किसी पात्र का अकेले आकर रंगभूमि में बोलते रहना (Soliloquy) और दूसरा किसी पात्र के खड़े रहने पर एक पात्र का बोलते रहना (Aside), जिसे रंगभूमि में उपस्थित सारा जन-समुदाय तो सुन सकता है, पर उसके निकट खड़ा हुआ पात्र इतना बधिर मान लिया जाता है कि वह नही सुन सकता। स्वगत्-कथन से अधिक अस्वाभाविक बात नाटकों मे और कोई नही हो सकती, जिसमें दूसरी प्रकार का स्वगत्-कथन (Aside) तो सर्वथा

अस्वाभाविक है। प्रथम प्रकार का स्वगत्-कथन साधारणतया स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि मनुष्य, हृदय में जो कुछ सोचता है, उसे सदा बड़बड़ाया नहीं करता; पर हाँ, कभी-कभी हृदय में भावों का अत्यधिक आवेग हो जाने पर, एक दो वाक्य मुख से निकल सकते हैं। इसी प्रकार असीम शोक में विलाप करते हुए, एक लम्बा स्वगत्-कथन हो सकता है, कोई पागल प्रलाप करता हुआ या मादक द्रव्य खाया हुआ व्यक्ति एक लम्बा स्वगत्-भाषण कर सकता है और भावों के बहुत अधिक प्रवाह में चित्र, मूर्ति आदि से भी स्वगत्-वार्तालाप सम्भव है। मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि ऐसे अवसरों पर स्वगत्-कथन न हो तो वह अस्वाभाविक बात होगी। स्वयं इब्सन तथा उसके अनुयायियों के नाटकों में भी हमें इस प्रकार के स्वगत्-कथन मिलते हैं। स्वगत्-कथन कहाँ स्वाभाविक होता है इसके अनेक दृष्टान्त पश्चिमी नाटकों में मिलते हैं। यहाँ मैं बर्नार्ड शा के नाटक 'प्रेस कटिंग' से एक उद्धरण देता हूँ। इस नाटक में जेनरल मिचरन जब अपने घर के नीचे की सड़क पर 'वोट फ़ॉर वीमेन', 'वोट फ़ॉर वीमेन' की चिल्लाहट सुनता है, तब चूँकि वह वर्तमान शासन-सुधारों के सर्वथा विरुद्ध है, क्रोध से अपनी बन्दूक उठा लेता है और अपने-आप कहता है— 'वोट फ़ॉर वीमेन, वोट फ़ॉर वीमेन, वोट फ़ॉर वीमेन, वोट फ़ॉर चिल्ड्रेन, वोट फ़ॉर बेबीज़।' जेनरल के उस समय के इस स्वगत्-भाषण से स्वाभाविकता उल्टी बढ़ गयी है; पर इस प्रकार के स्थलों को छोड़कर पात्रों का रंगभूमि पर लम्बे-लम्बे स्वगत्-भाषण करना सर्वथा अस्वाभाविक है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि कालिदास, शेक्सपियर आदि सभी प्राचीन, पूर्वीय और पश्चिमी सफल नाटककारों के नाटकों में इस प्रकार के कथन हैं और इतने पर भी ये नाटक जैसे उच्चकोटि के हैं वैसे आजकल के नाटक नहीं लिखे जाते। परन्तु, संसार में कोई वस्तु पूर्णता को न पहुँची है न कभी पहुँच ही सकेगी। कालिदास और शेक्सपियर

के पश्चात् नाट्य-कला का और भी विकास हुआ है। यदि उनके समान नाटकों की अब सृष्टि नहीं होती तो इसका कारण यह है कि वैसे प्रतिभाशाली नाटककारों का इस समय जन्म नहीं हुआ। स्वगत्-कथन यदि उनके नाटकों में न होता तो इसमें सन्देह नहीं कि नाट्य-कला की दृष्टि से वे नाटक और भी अच्छे होते। स्वगत्-भाषणों को हटाने के लिए पश्चिम के नाटककारों ने कई उपाय निकाले हैं। नाटकों में वे कुछ ऐसे पात्र जोड़ देते हैं जिनका काम केवल मुख्य पात्रों से बातचीत करना ही होता है। टेलीफ़ोन द्वारा बातचीत से भी स्वगत्-कथन का कार्य चल जाता है और किसी-किसी नाटक में अपने पालतू कुत्ते, बिल्ली, बन्दर या पक्षियों के सामने कुछ पात्र अपने मन की बातें कह डालते हैं। स्वगत्-कथन का काम इनमें से किसी भी साधन का सावधानतापूर्वक उपयोग करने से चल सकता है।

नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए जो दूसरी बात इब्सन ने की है वह है नाटकों से पद्य, कविता और नृत्य का बहिष्कार। पश्चिम के सभी आधुनिक नाटककारों ने भी इब्सन का अनुसरण किया है। हमारे यहाँ नाटकों में पद्य, कविताओं और नृत्य की भरमार रहती है, यहाँ तक कि पात्र गद्य में बोलता-बोलता उसी विषय को कविता में बोलने लगता है। गानों की तो इतनी भरमार रहती है कि युद्ध में जानेवाला वीर खड्ग निकालकर उसे घुमाता हुआ गाता है; कोई बीमार मर रहा है, तो उसके सिरहाने गाना होता है; कोई मर जाता है तो उसके शव पर गाया जाता है; यहाँ तक कि मरनेवाला पात्र स्वयं गाता-गाता मरता है। हमारे यहाँ के नाटक का एक पात्र गाता हो तो कहा जाय, राजा, रानी, राजकुमार, राजकुमारी, मंत्री, सेनापति, विदूषक और साधारण नागरिक सभी गाते हैं और सब अवसरों पर। यह नाटकों में बन्द करना चाहिए। पर, योरुप के नाटककारों के सदृश गायन, नृत्य और कविता का नाटक से सर्वथा बहिष्कार करने की भी मेरे मत से आवश्यकता नहीं है। संसार

में गाने से कई व्यक्तियों को प्रेम होता है, अतः नाटक के भी कुछ पात्र गा सकते हैं। गायन अधिकतर प्राकृतिक सौन्दर्य आदि ऐसे विपयों पर हों जिससे यह भावना उठे कि पात्र गद्य में वोलते-वोलते तत्काल उन्हीं भावों का पद्य वनाकर गाने लगा है। साथ ही, ऐसे पात्र ऐसे अवसरों पर गावें जो स्वाभाविक जान पड़ें। हाँ, कोई कवि पात्र जिस विपय पर कथोपकथन करता है उसी विपय पर तत्काल गा भी सकता है, परन्तु सव पात्र नहीं। अकेला पात्र भी रंगभूमि में गा सकता है, क्योंकि अकेले में प्रायः मनुष्य गाने लगता है। कविता भी उद्धरण आदि के स्वरूप में वोली जा सकती है और नृत्य भी सभाओं, प्रीति-भोज आदि के अवसरों पर हो सकता है। विना गायन, कविता या नृत्य के गद्य नाटक भी हो सकते हैं। जहाँ यह आवश्यक नहीं है कि गायन, कविता और नृत्य का नाटक से पूर्ण वहिष्कार किया जाय वहाँ यह भी आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक नाटक में गायन, कविता और नृत्य रखे ही जावें। उर्दू नाटकों में एक वात और होती है जो कुछ हिन्दी-नाटककारों ने भी अपनायी है। कुछ पात्र इस प्रकार की भाषा में वोलते हैं जिसके अन्तिम शब्द तुक के रूप में मिल जाते हैं, अर्थात् गद्य में ही एक प्रकार की तुकवन्दी हो जाती है। यह अस्वाभाविकता की पराकाष्ठा है; क्योंकि वातचीत में कभी ऐसा नहीं होता; अतः इसका प्रयोग भी वन्द होना आवश्यक है।

नाटकों में स्वाभाविकता लाने के लिए प्राचीन काल में, यूनान में, एक और निश्चय हुआ था कि आदि से अन्त तक सारा नाटक इस प्रकार रचा जाना चाहिए कि जिससे वह किसी एक ही स्थान में हो रहा है, ऐसा मालूम हो, साथ ही उसकी अवधि भी एक ही दिन की घटना तक परिमित रहे और वह एक ही कृत्य के सम्वन्ध में भी हो। इसे साहित्यिज्ञों ने 'संकलन-त्रय' या 'समक' नाम दिया है। अव यह वात कहीं प्रचलित नहीं रही और विद्वानों ने यह मान भी लिया है कि नाट्य-कला के विकास की दृष्टि से यह अत्यन्त दूपित है; हाँ, फ़्राँस में कुछ नाटक अभी भी इस सिद्धान्त

के अनुसार लिखे जाते हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में अभी कुछ भ्रम रह गया है। हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने अपने 'साहित्यालोचन' ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में लिखा है—"साधारणतः नाटकों में दो-चार वर्ष की घटनाएँ सहज में खप सकती हैं, पर इससे अधिक समय की घटनाएँ एक ही नाटक में दिखलाने के लिए रचना-सम्बन्धी विशेष कौशल और चातुर्य की आवश्यकता है। यह कौशल इसी बात में है कि बीच में बीतनेवाले समय पर दर्शकों का कभी ध्यान न जाने पाये और न उनको यह बतलाने की आवश्यकता पड़े कि बीच में कितना समय बीता है।" बाबू श्यामसुन्दरदासजी के इस मत से मैं सहमत नहीं हूँ। पहले तो यदि चार या पांच घण्टों में होनेवाले नाटक में दो-चार वर्ष की घटनाओं का समावेश हो सकता है तो कितने ही दीर्घ काल की घटनाओं का भी हो सकता है। शेक्सपियर का 'विन्टर्स टेल' नाटक एक स्थल पर पूरे चौदह वर्ष के पश्चात् से आरम्भ होता है और बर्नार्ड शा के नाटक 'बैक टु मैथ्यूसुला' में तो मनुष्य की उत्पत्ति से लेकर उसके अन्त तक की काल्पनिक कथा का वर्णन है। फिर इस सम्बन्ध में जिस प्रकार के कौशल के प्रयोग का संकेत बाबू श्यामसुन्दरदासजी करते हैं, मेरा मत उसके ठीक विपरीत है। मेरा तो मत है कि यदि एक ही नाटक में एक घटना के पश्चात् की दूसरी घटना यथेष्ट समय के पश्चात् आरम्भ होती है, तो उस घटना के आरम्भ में ही दर्शकों को नाटक के पात्रों द्वारा ही यह बात मालूम हो जानी चाहिए कि इतने समय के पश्चात् से नाटक का आरम्भ होता है; साथ ही यह बात इस कौशल से बतायी जानी चाहिए कि दर्शकों को यह भी न जान पड़े कि यह पात्र, यह भाषण इसीलिए कर रहा है कि दर्शकों को यह मालूम हो जाय कि नाटक की घटनाएँ अब इतने समय के पश्चात् आरम्भ होतीं हैं।

नाटक की स्वाभाविकता की रक्षा के लिए योरप में एक बात का और प्रचार हो चला था कि पात्रों के भाषण लम्बे न हों, पर इब्सन और

उसके कुछ अनुयायियों ने अपनी कृतियों से यह सिद्ध कर दिया है कि स्वाभाविकता के लिए यह आवश्यक नहीं है। कई स्थानों पर तो लम्बे भाषण स्वाभाविकता लाने के लिए आवश्यक हो जाते हैं। उदाहरण के लिए किसी सार्वजनिक सभा के दृश्य में यदि वक्ता दो-चार वाक्य कहकर ही अपना भाषण समाप्त कर दे तो वह स्वाभाविक न होकर अस्वाभाविक बात हो जायगी; इसी प्रकार कथोपकथन में भी कई स्थानों पर लम्बे भाषण आवश्यक और उपयुक्त होते हैं। यदि हम पश्चिम के आधुनिक श्रेष्ठ नाटककारों के नाटकों में से उनके पात्रों के कुछ लम्बे भाषणों को निकाल डालें तो उनके नाटकों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन ही नहीं हो सकेगा। हाँ, कहाँ किस प्रकार का कथन हो इसका ध्यान अवश्य रखना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि कोई एक पात्र मर रहा है तो इस अवस्था में यदि वह लम्बा भाषण देगा तो वह सर्वथा अस्वाभाविक होगा।

हिन्दी-नाटकों में अब तीन ही अंक रखने की प्रथा चल पड़ी है और फिर प्रत्येक अंक को बराबर रखने का प्रयत्न किया जाता है। यह भी एक ऐसी बात है जिससे कई नाटक बहुत ही अस्वाभाविक दिख पड़ते हैं। अंकों की संख्या, व्यवस्था तथा उनकी बड़ाई-छुटाई कथानक पर निर्भर है। यदि अधिक अंक होंगे तो उन्हें छोटा रखना होगा। अधिक अंकों से अधिक बार यवनिका-पतन कराने के अतिरिक्त और कोई कठिनाई नहीं होती। यह हो सकता है कि अधिक अंकों के नाटक में एक अंक के पश्चात् दूसरा अंक आरम्भ करने में बहुत अधिक समय न लिया जाय, क्योंकि दर्शक, अनेक बार, यदि बहुत समय तक प्रतीक्षा की अवस्था में बैठें तो ऊब उठेंगे।

बहुत अधिक पात्र रखना यह हमारे नाटकों को और अस्वाभाविक बना देता है। कई नाटकों का तो यह हाल है कि हम आरम्भ से अन्त तक अनेक पात्रों को पहचान तक नहीं पाते और इसी कारण चरित्र-चित्रण का पूर्ण विकास नहीं होने पाता। यह कहना तो कठिन है कि पात्रों

की संख्या अधिक से अधिक कितनी हो, पर वह जितनी कम से कम रह सके उतना ही अच्छा है। मुख्य पात्रों के सहायक-स्वरूप हम नगर-निवासी इत्यादि उपपात्र रख सकते हैं।

जहां हमें नाटकों को अत्यधिक स्वाभाविक बनाने का पूर्ण उद्योग करना चाहिए वहां हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि इस स्वाभाविकता के पीछे हम इतने पागल न हो जायें कि काव्य के मुख्य प्रयोजन की ओर, जिसका विवेचन मैंने इस कथन के आरम्भ में ही किया है, हमारा ध्यान ही न रह जाय। इस सम्बन्ध में, नाट्य-कला में दक्ष इँग्लेण्ड के एक अनुभवी नट मि० फिलिप बी० बैरी जिन्होंने बीस वर्ष तक नट का कार्य किया है, अपनी 'हाउ टु सक्सीड एज ए प्लेराइट' नामक पुस्तक में लिखा है—

"......नाटककार की दृष्टि अत्यन्त व्यापक होनी चाहिए। उसे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चाहे वह कितना ही यथार्थवादी क्यों न हो, नाटक में पूर्ण यथार्थवाद कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। जीवन की जो घटनाएँ दिनों, सप्ताहों, मासों या वर्षों की हैं उनका कुछ घंटों में प्रदर्शन ही यथार्थवाद के लिए सबसे बड़ी आपत्ति है और जब इस उद्देश की पूर्ति पूर्ण रीति से सम्भव नहीं है, तब उसे अपनी रचना को कल्पनाओं के रंग और वैचित्र्यपूर्ण उड़ान से वंचित क्यों रखना चाहिए? ....यदि कोई लेखक मुझसे पूछे कि आजकल के पश्चिमी नाटकों में किस बात की कमी है तो मैं यही कहूँगा कि उनमें 'उड़ान' की महानता नहीं है।"

इस सम्बन्ध में बर्नार्ड शा ने अपने 'क्वेनी सैन्स ऑफ़ इब्सनइजिम' नामक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह भी ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"नाटकघर का अनुभवी मैनेजर यह वृथा ही कहता है कि दर्शक नाटकघर में केवल मनोरंजन चाहते हैं, शिक्षण नहीं; वे बड़े-बड़े भाषणों

को सहन नहीं करेंगे; कोई नाटक १८००० शब्दों से अधिक का नहीं होना चाहिए; वह ठीक ९ बजे आरम्भ हो कर ११ बजे समाप्त हो जाना चाहिए; उसमें राजनीति और धर्म का विवाद नहीं होना चाहिए; इन स्वर्ण नियमों की अवहेलना दर्शकों को बुरे नाटकघरों को ले जायगी; नाटक में एक बुरे चरित्र की स्त्री अवश्य होनी चाहिए; इत्यादि, इत्यादि। ये सब सम्मतियाँ उन नाटकों के लिए उपयुक्त हो सकती हैं जिनमें कोई महान् विषय चर्चा के लिए न हो। इन बातों की वह नाटककार अवहेलना कर सकता है जो नैतिक सिद्धान्तों पर चर्चा करता है और जो इस प्रकार के कथोपकथन को सुन्दरता से कराने की शक्ति रखता है तथा अच्छा नाटककार भी है। ऐसे नाटककार की बातों को दर्शक, बिना घड़ी की ओर देखे, अथवा अपनी शारीरिक सुविधाओं की ओर दृष्टि दिये, सुनेंगे। हाँ, इसके लिए दर्शकों को आरम्भ में उस काल को समझ सकने योग्य अभ्यास की आवश्यकता होगी।"

इब्सन और उसके अनुयायियों के नाटकों का योरुप में पहले तो बड़ा तिरस्कार हुआ, पर पीछे से उन्हें पश्चिम के लोगों ने जिस चाव से देखा है उससे यह सिद्ध हो गया है कि सन् १८९५ में जो भविष्य-वाणी बर्नार्ड शा ने की थी वह सत्य निकली।

आयरलेण्ड के प्रसिद्ध नाटककार सिन्जे अपने 'दि टिन्कर्स वेडिंग' नामक नाटक की भूमिका में इसी विषय पर लिखते हैं—

"हमें नाटकघर उस प्रकार नहीं जाना चाहिए जिस प्रकार हम किसी दूकान पर जाते हैं, वरन् इस प्रकार जाना चाहिए जिस प्रकार हम भोजन करने के लिए जाते हैं, जिसकी हमें आवश्यकता होती है और जो हम आनन्द एवं भावपूर्ण हृदय से खाते हैं। ....जिन वस्तुओं से कल्पनाओं और विचारों का पोषण होता है वे अत्यन्त आवश्यक हैं और उनका सीमित करना अथवा नाश बड़ी भयानक बात है।"

सफल नाटक का साहित्य में स्थान

सफल नाटक साहित्य में कितना उच्च स्थान रखता है इस विषय में लन्दन-यूनिवर्सिटी के अँगरेजी भाषा के अध्यापक डॉक्टर ए० निकोल ने अपने 'एन इन्ट्रोडक्शन टु ड्रेमेटिक थियोरी' नामक ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है वह ध्यान देने योग्य है। वे लिखते हैं—

"साहित्य के समस्त विभागों में नाटक उसका सबसे अधिक विलक्षण, सबसे अधिक रोमांचकारी और घटनाओं को सबसे अधिक पटुता से प्रदर्शित करनेवाला विभाग है। जिस समाज में उसका प्रादुर्भाव होता है उस समाज की आन्तरिक भावनाओं के वह इतने निकट रहता है, अनेक युगों तक भिन्न-भिन्न देश-देशान्तरों के निवासियों को विविध प्रकार से वह इतना प्रभावित करता है, मानव समाज के समस्त वर्ग जहाँ एकत्रित होते हैं, उस रंगमंच से वह इतना घनिष्ट संबंध रखता है, उसका दृष्टिकोण एवं ध्येय सामाजिक दृष्टि से इतना व्यापक रहता है और हास्य रस तथा विदूपकता के गहरे से गहरे गर्त में उतर कर भी वह कवि-कल्पना के उच्चतम शिखर पर पहुँचने की इतनी क्षमता रखता है कि मानव-बुद्धि-द्वारा उपार्जित साहित्य में मनोरंजन की दृष्टि से उसका निश्चयपूर्वक ही सर्वश्रेष्ठ स्थान सिद्ध हो जाता है।"

नाटक का कार्य मनोरंजन के अतिरिक्त और क्या है इस सम्बन्ध में भी उपर्युक्त लेखक अपनी इसी पुस्तक में कहते हैं—

"यह स्पष्ट है कि अपने उच्चतम रूप में नाटक केवल मनोरंजन की वस्तु नहीं है। जिस काल में नाटक का केवल इतना ही उपयोग होता है... उस काल की नाट्य-रचना निम्न-कोटि की एवं विचारशून्य रहती है। उत्तम नाटक का प्रादुर्भाव केवल उसी समय होता है जब नाटक मनोरंजन के साथ-साथ किसी विचार विशेप अर्थात् सामाजिक, धार्मिक अथवा राष्ट्रीय सिद्धान्त का प्रदर्शन करता है।"

उत्तम और सफल नाटक के आवश्यक गुणों और स्वाभाविकता का यह विवेचन हो चुकने के पश्चात् हमें नाटकों की कुछ अन्य बातों की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

नाटक में हास्य-रस

हास्य-रस नाटक का एक आवश्यक गुण है, किन्तु सभी नाटकों में यह नहीं रखा जा सकता। किसी-किसी नाटक में हास्य-रस रखने से उसके रस-परिपाक में बड़ी बाधा पहुँचती है; यहाँ तक कि कभी-कभी तो बड़ी बुरी तरह रस-भंग हो जाता है। परन्तु, यहाँ यह न समझ लिया जाय कि दुःखान्त (tragedy) नाटकों में हास्य-रस नहीं रखा जा सकता। अनेक दुःखान्त नाटकों में भी यह सफलतापूर्वक रखा जा सकता है। हास्य की उत्पत्ति किन कारणों से होती है इसकी चर्चा पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों साहित्यकारों एवं मनोविज्ञान के ज्ञाताओं ने खूब की है, जिसका अध्ययन प्रत्येक नाटककार के लिए आवश्यक है। मैं यहाँ इस विषय का कोई विस्तृत विवेचन नहीं करना चाहता, फिर भी नाटकों में किस प्रकार के हास्य-रस रखने का मैं पक्षपाती हूँ और कौनसा हास्य-रस मैं सर्वथा निषिद्ध समझता हूँ इस पर संक्षेप से कुछ लिख देना चाहता हूँ।

हास्य की उत्पत्ति किसी असाधारण या विकृत वस्तु के देखने अथवा सुनने से होती है, यद्यपि सभी असाधारण या विकृत वस्तुओं के देखने या सुनने से हास्य का प्रादुर्भाव नहीं होता। स्थूल दृष्टि से जिन बातों से हास्य की उत्पत्ति होती है वे निम्नलिखित हैं—

(१) असाधारण या विकृत रूप
(२) " " वेश
(३) " " संकेत
(४) " " चरित्र

(५) असाधारण या विकृत परिस्थिति
(६) " " शब्द और वाक्य

इनमें से १, २, ३ और ४ से जिस हास्य की उत्पत्ति होती है वह साधारण कोटि का है। मन पर उसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ता। पाँचवें और छठवें प्रकार का हास्य उच्चकोटि का है और मन पर, इसका गहरा प्रभाव पड़ता है।

सबसे अधिक ध्यान हमें अन्तिम प्रकार के हास्य पर देना चाहिए। जिन शब्दों या वाक्यों से इस हास्य की उत्पत्ति होती है उन्हें हमारे यहाँ 'व्यंग' कहते हैं। पश्चिमी साहित्यकारों ने इस व्यंग के भेद कर इसे तीन स्थूल विभागों में बाँटा है—'सेटायर', 'विट' और 'ह्यूमर'। हास्य-रस में तीनों का बड़ी सुन्दरता के साथ उपयोग किया जा सकता है। अनेक वार उपर्युक्त छहों प्रकार के हास्य का इकट्ठा उपयोग कर एक विलक्षण परिस्थिति उत्पन्न की जा सकती है।

पारसी रंगमंच पर जिस प्रकार के हास्य-रस का प्रदर्शन होता है वह अत्यन्त निम्नकोटि का और अश्लील होता है। मैं इस प्रकार के हास्य-रस का प्रयोग निषिद्ध मानता हूँ। हास्य-रस का लेखन और प्रदर्शन, दोनों ही, बड़े कठिन कार्य हैं। इसके लिए असाधारण प्रतिभाशाली लेखक और नट की आवश्यकता है। यदि उच्च-कोटि के हास्य-रस की रचना और प्रदर्शन संभव नहीं है तो जिस प्रकार का हास्य-रस आजकल लिखा और दिखाया जाता है उसकी अपेक्षा तो न लिखा और न दिखाया जाना ही अच्छा है।

पात्रों की भाषा

जिस भाषा में नाटक लिखे जाते हैं अधिकांश पात्रों की वही भाषा होनी चाहिए इसमें मत-भेद नहीं हो सकता, पर किसी-किसी पात्र की उपभाषा (Dialect) भी रह सकती है या नहीं यह एक मत-भेद का

विषय है। प्राचीन संस्कृत नाटक के अनेक पात्र प्राकृत भाषा में बोलते थे। आज अँगरेज़ी नाटकों में भी कुछ पात्र उपभाषा में बोलते हैं। बर्नार्ड शा के 'पैग मिलियान' नाटक में फूल बेचनेवाली एक लड़की उपभाषा में बोलती है। इसी प्रकार उनके 'प्रेस कटिंग' आदि दूसरे नाटकों के भी कुछ पात्र उपभाषाओं में बोलते हैं। मेरे मतानुसार हिन्दी नाटकों में भी कोई-कोई पात्र उपभाषा में बोल सकते हैं। आजकल के अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की बातचीत में कुछ अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग भी होता है। इनमें से कुछ शब्द तो इतने प्रचलित हो गये हैं कि साधारण जनता भी उन्हें समझ सकती है। अतः कुछ पात्रों की भाषा में यदि इस प्रकार वे शब्दों का प्रयोग भी हो तो कथोपकथन की स्वाभाविकता में वृद्धि ही होगी बंगाली, महाराष्ट्र, सिख, गुजराती आदि समाजों के व्यक्ति जिस प्रकार व हिन्दी बोलते हैं यदि उसी प्रकार की हिन्दी रंगमंच पर भी बोलें तो नाट की स्वाभाविकता बढ़ेगी। हिन्दी नाटकों में एक बात और ध्यान योग्य है कि मुसलमान पात्र किस भाषा में बोलें? मराठी, बँग गुजराती और दक्षिण भारत की भाषाओं से उर्दू का इतना सम्बन्ध जितना हिन्दी से है; अतः उन भाषाओं के मुसलमान पात्र भी उन भा में बोल सकते हैं, पर हिन्दी और उर्दू का इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि मुसलमान पात्र का संस्कृत मिली हिन्दी में भाषण करना विलक्षणसा होता है। जहाँगीर, नूरजहाँ, शाहजहाँ आदि ऐसे ही मुस्लिम पात्र बादशाही वस्त्रों में रंगभूमि में आकर संस्कृत-मिश्रित हिन्दी बोलें, यह असंगत मालूम होता है। पर, उर्दू भाषा ऐसी होनी चाहिए जो हिन्दी की समझ में सहज में आ सके। मैंने जहाँ मुसलमान पात्रों को मिली हिन्दी बोलते सुना है वहाँ हिन्दी नाटकों में ऐसी उर्दू भी जिसको समझना हिन्दी भाषियों के लिए बहुत ही कठिन है। इस स एक प्रश्न और उठता है कि यदि मुसलमान पात्र उर्दू भाषा में मुसलमान और हिन्दू पात्रों में आपस के संभाषण में किस भाषा क

किया जाना चाहिए ? हमारे कई लेखक, जो मुसलमानों के, उर्दू में बोलने के पक्ष में हैं, मुसलमानों और हिन्दुओं के संभाषण में हिन्दुओं से भी उर्दू भाषा का उपयोग कराते हैं, पर मेरे मतानुसार यह ठीक नहीं है। यदि मुसलमानों और हिन्दुओं की परस्पर बातचीत में हिन्दुओं को उर्दू बोलनी चाहिए तो मुसलमानों को ही हिन्दी क्यों न बोलनी चाहिए ? नित्यप्रति के व्यवहारों में क्या होता है ? जब मुसलमानों और हिन्दुओं में परस्पर संभाषण होता है तब हिन्दू अधिकतर हिन्दी शब्दों और मुसलमान उर्दू शब्दों का उपयोग करते हैं। जैसा मैंने ऊपर लिखा है, हिन्दी और उर्दू के घनिष्ट सम्बन्ध के कारण ही मुसलमान पात्रों का हिन्दी-नाटकों में उर्दू बोलने का प्रश्न उठता है, अतः हिन्दू-मुसलमान पात्रों के परस्पर संभाषण में हिन्दू पात्रों का सरल हिन्दी और मुसलमान पात्रों का सरल उर्दू में ही बोलना उचित प्रतीत होता है।

रंगमंच

यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि ऐसे नाटक भी, जो खेले नहीं जा सकते, पर साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के और पढ़ने के लिए उपयोगी हैं, नाटक की परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं; फिर भी जो नाटक पढ़ने योग्य होते हुए खेले जा सकें और साथ ही साहित्यिक दृष्टि से उच्चकोटि के हों, वे अधिक अच्छे हैं, इसमें मत-भेद नहीं हो सकता। ऐसे नाटक लिखने के लिए नाटककार को लिखने की विधि के साथ ही रंगमंच-संबंधी विधि की ओर भी लक्ष रखना आवश्यक है। रंगमंच-संबंधी बातों में नाटककार को दृश्यों की व्यवस्था, पात्रों की वेश-भूषा तथा पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान आदि बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए ।

प्राचीन संस्कृत नाटकों में एक अंक में, एक ही दृश्य रहता है। हाँ, विष्कंभक, प्रवेशक, चूलिका, अकास्य और अंकावतार, अंकों के अतिरिक्त अवश्य रहते थे, पर ये दृश्य किसी अंक के आरंभ या अन्त में ही आते थे,

जो लकड़ी के तख्तों आदि के दोनों ओर चित्रित रहते हैं तथा जिनके एकदम-से परिवर्तित करने की व्यवस्था होती है। दोनों बगलों में, बगली-परदे (wings) और ऊपर झालर (pliers) का प्रबंध तीनों प्रकार के दृश्यों में आवश्यक होता है। इनमें से तीसरे प्रकार के दृश्यों की व्यवस्था बहुत कठिन है, पर पहले दो प्रकार के दृश्यों की नहीं। जब तक हमारे यहाँ कलों द्वारा दृश्य-परिवर्तन की व्यवस्था नहीं हो जाती तब तक ध्यान रखने की बात यह है कि पहले प्रकार के दो दृश्य, एक के पश्चात् दूसरा न आ जावे। इस प्रकार के दो दृश्यों के बीच में या तो दूसरे प्रकार के दृश्य आवश्यक होते हैं या यवनिका-पतन। रंगमंच के संकुचित स्थान में एक ही साथ दो से अधिक पहले प्रकार के दृश्यों की व्यवस्था नहीं रह सकती। फिर एक के पश्चात् दूसरा पहले प्रकार का दृश्य तैयार रहते हुए भी उसके प्रदर्शन के पूर्व, बीच में, कम से कम एक दूसरे प्रकार का दृश्य आवश्यक है, जिससे, जिस पहले प्रकार के दृश्य का प्रदर्शन हो चुका है वह हटाया जा सके; दूसरे, पहले प्रकार के दृश्यों के बीच में दूसरे प्रकार के दृश्यों के रहने से नेपथ्य में पहले प्रकार के दृश्यों की तैयारी के लिए समय मिल जाता है जो अनिवार्य है। हाँ, पहले प्रकार के दृश्य ऐसे स्थलों पर साथ-साथ रह सकते हैं जहाँ एक के बाद ही दूसरा दृश्य चित्रित हो और वह परिवर्तित किया जा सके। दूसरे प्रकार के दृश्यों के गिराने और उठाने की व्यवस्था की ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है।

दृश्यों की व्यवस्था के संबंध में, मैंने यहाँ जो कुछ लिखा है वह भारतीय रंगमंचों की वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए है। यहाँ यदि पश्चिमी रंगमंचों के समान दृश्य-परिवर्तन के लिए कलों की व्यवस्था हो जावे तो उपर्युक्त कथन का बहुत-सा अंग निरर्थक हो जायगा। पश्चिमी रंगमंचों पर गिराये और उठाये जानेवाले परदों का सर्वथा बहिष्कार हो गया है, क्योंकि वहाँ स्टीम और बिजली की कलों के द्वारा क्षण भर में दृश्यों का परिवर्तन हो जाता है। विविध प्रकार के भारी-भारी सामानों

से सजे हुए कमरे, बग़ीचे, बाज़ार आदि के दृश्य नीचे बैठ जाते या ऊपर खींच लिये जाते हैं और उनके स्थान पर दूसरे इसी प्रकार के दृश्य लाये जा सकते हैं। मैंने जब बेल्जियम के प्रसिद्ध नाटककार मैटरलिंक के 'ब्लू बर्ड' नाटक का, जिसपर नाटककार को नोबल प्राइज़ मिल चुका है, अँगरेज़ी अनुवाद पढ़ा और उसकी भूमिका में यह पढ़ा कि अमुक-अमुक नाट्य-परिषदों-द्वारा यह नाटक खेला भी जा चुका है, तब मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि अनेक स्थलों पर उसके दृश्यों में एक दृश्य के पश्चात् दूसरा दृश्य इस प्रकार का है कि भारतवर्ष में तो इस प्रकार का नाटक सिनेमा को छोड़कर, नाटकीय रंगमंच पर दिखाया जाना असम्भव है।

पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान की ओर भी नाटककार को लक्ष रखना चाहिए। उदाहरण के लिए एक पात्र यदि एक दृश्य में किसीसे बात कर रहा है या मूर्च्छित होकर गिरता है तो वह उसीके पश्चात् के दृश्य में कहीं बैठा हुआ नहीं दिख सकता। अधिक से अधिक वह दूसरे दृश्य में प्रवेश कर सकता है; पर, यदि वह पहले दृश्य में मूर्च्छित होता है तब तो उसीके पश्चात् के दूसरे दृश्य में उसका प्रवेश भी संभव नहीं है। फिर पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान में वे किस प्रयोजन से प्रवेश और प्रस्थान कर रहे हैं इसकी ओर भी ध्यान रखना आवश्यक है। पश्चिमी नाट्य-शास्त्र के आलोचकों ने इस संबंध में बहुत ज़ोर दिया है। उनका तो कथन है कि जो भी पात्र रंग-भूमि में प्रवेश या वहाँ से प्रस्थान करे उसके प्रवेश या प्रस्थान का स्पष्ट कारण होना ही चाहिए। अकस्मात अमुक पात्र रंगभूमि में अमुक अवसर पर आ गया, या वहाँ से चला गया, इसे वहाँ के लोग सर्वथा अनुचित समझते हैं। इस सम्बन्ध में मैं पश्चिमी विद्वानों से इतनी दूर तक सहमत नहीं हूँ। इसके दो कारण हैं, पहला तो यह कि नाटक में यह बात पूर्णतया सध नहीं सकती। पहले-पहल जब यवनिका उठती है तभी कुछ पात्र बैठे हुए दिखते हैं, अतः यदि प्रत्येक पात्र के प्रवेश और प्रस्थान का कारण होना आवश्यक है तो यवनिका खुलने के समय उन पात्रों के

रंगभूमि में बैठे रहने का भी कारण होना चाहिए। दूसरे, यदि नाटक से अकस्मात प्रवेश और प्रस्थान को पूर्णतया निकाल दिया जाय तो नाटक का सौंदर्य भी कुछ कम हो जायगा। कभी-कभी तो किसी पात्र का अकस्मात प्रवेश या प्रस्थान दृश्य के सौंदर्य को कई गुना बढ़ा देता है एवं अनेक कठिनाइयों को भी हल कर देता है और ऐसे अवसरों पर आनंद एवं आश्चर्य से प्रेक्षकों के मुख से 'नाटकीय' या 'ड्रेमेटिक' शब्द निकल पड़ता है। इस संबन्ध में यहाँ मैं एक उदाहरण दूँगा।

गोस्वामी तुलसीदासजी की रामायण यद्यपि दृश्यकाव्य नहीं है तथापि उसके अनेक स्थल 'नाटकीय' कहे जा सकते हैं। अयोध्याकाण्ड में उस स्थल पर जहाँ चित्रकूट में राम को अयोध्या लौटाने के लिए राम और भरत का संवाद चल रहा था, जव राम के अन्तिम उत्तर का अवसर आया तव उस समय तुलसीदासजी कितनी सुन्दरता से लिखते हैं—'जनक-दूत तेहि अवसर आवा।' इस स्थल पर पाठकों के मुख से 'नाटकीय' शब्द निकले विना नहीं रह सकता। अकस्मात जनक-दूत का आगमन न केवल सुन्दरता को वढ़ाता वरन् तत्काल, राम के उत्तर देने की कठिनाई को भी हल कर देता है। इतने पर भी मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि रंगभूमि में पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान सदा अकस्मात ही होना चाहिए। यदि सदा ऐसा होगा तो नाटक में वड़ा भद्दापन आ जायगा और ऐसा जान पड़ेगा कि दर्शकों को भापण सुनाकर चले जाने के लिए ही पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान हो रहा है। इस संबंध में क्या करना चाहिए इसका नाटककार को वारीकी से ध्यान रखना आवश्यक है।

पश्चिमी नाटककारों ने रंगमंच में भोजन आदि की व्यवस्था कर कथोपकथन में स्वाभाविकता की वृद्धि की है। मेरे मत से नाटकों में यह व्यवस्था कथोपकथन की स्वाभाविकता को वढ़ा सकती है।

दृश्य, पात्र और पात्रों की वेश-भूषा

नाटककार का जितना सम्बन्ध रंगमंच से है उतना ही नाटक के दृश्यों, उसके पात्रों, पात्रों की अवस्था, मुखाकृति, शरीर और वेश-भूषा से है। ये सब बातें देश, कॉल और पात्र के अनुसार ही होनी चाहिए। पश्चिम के नाटककार इस ओर बराबर ध्यान रखते हैं और वे इन बातों का अपने नाटकों में सांगोपांग वर्णन कर देते हैं। पारसी कम्पनियों के 'रामायण' और 'महाभारत' नाटकों को जिन्होंने देखा है एवं उनके दृश्य और उनमें राम और कृष्ण के जिन्होंने दर्शन किये हैं वे जानते होंगे कि ये दृश्य और पात्र, कम से कम हमारे प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित दृश्य और पात्रों के समान नहीं हैं। यही बात अनेक ऐतिहासिक नाटकों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इँग्लैण्ड के एक प्रसिद्ध नाटककार ऑस्करवाइल्ड ने अपनी 'इन्टैंशन्स' नामक पुस्तक में 'दी ट्रूथ ऑफ़ दी मास्क्स' लेख में नाटक के पात्रों की वेश-भूषा के विषय में सुन्दर विवेचन किया है। यह पूरा लेख नाटककारों के अध्ययन की वस्तु है। जिस काल की कथा पर नाटक लिखा जावे उस काल के दृश्यों और वेश-भूषा पर एवं जिस प्रकार के पात्र हों उन पात्रों पर विचार कर नाटककार को अपने नाटकों में उसके दृश्यों, पात्रों और वेश-भूषा का पूरा वर्णन कर देना आवश्यक है, जिससे अभिनय के समय भी नाटक का अभिनय भ्रष्ट न हो और पढ़ते समय भी चित्र के समान ये सारी बातें नेत्रों के सम्मुख चित्रित हो जावें।

अभिनय

अभिनय नाटक का कितना आवश्यक अंग है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं। अच्छे से अच्छा नाटक, खेलते समय अभिनय बुरा होने से, सर्वथा भ्रष्ट हो सकता है और कभी-कभी बुरे से बुरा नाटक अच्छा अभिनय होने से देखने के समय बहुत अच्छा दिखायी देता है।

जो नाटक सिनेमा में परिणत किये जाते हैं उनमें तो अभिनय ही सब कुछ होता है। अभिनय का अधिकतर भार नटों की योग्यता पर निर्भर है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु नाटककार भी, नाटक में, इस सम्बन्ध में संकेत कर सकता है और करना आवश्यक भी है क्योंकि जिस मस्तिष्क से वस्तु, पात्रों और रस की सृष्टि हुई है वही यदि अभिनय के लिए संकेत कर देवे तो वह और भी उपयुक्त होगा। इँग्लैण्ड के प्रसिद्ध नाटककार गाल्सवर्दी और जर्मनी के प्रसिद्ध नाटककार हाप्टमैन ने यह कार्य अपने नाटकों में बड़ी सफलता से किया है। उनके किसी-किसी नाटक के कोई-कोई दृश्य तो पूरे के पूरे मूक अभिनय से ही भरे हैं। इन्हें पढ़ने और देखने, दोनों से, मन पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना उन दृश्यों में यदि उन पात्रों के मुख से कुछ कहलाया जाता तो कदाचित् न पड़ता। इस सम्बन्ध में गाल्सवर्दी के 'जस्टिस' नाटक के तीसरे अंक का तीसरा दृश्य नाटककारों के ध्यान से पढ़ने योग्य है।

नाटक और सिनेमा

सिनेमा और विशेषकर बोलनेवाले सिनेमा (talkies) के इस युग में नाटकों पर जनसाधारण का ध्यान बहुत कम हो चला है। ये दोनों वस्तुएँ यदि कुछ बातों में एक दूसरे के अत्यधिक समान हैं तो कुछ बातों में एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न। मेरा तो यह मत है कि न तो सिनेमा नाटक का पूरा स्थान ले सकता है औन न नाटक सिनेमा का। सिनेमा में जिस प्रकार के दृश्यों और घटनाओं का प्रदर्शन हो सकता है उस प्रकार का अच्छे से अच्छा रंगमंच होने पर भी नाटकों में नहीं; इसी प्रकार कथोपकथन-द्वारा किसी महान् विषय का जैसा नाटक में प्रतिपादन हो सकता है वैसा सिनेमा में नहीं। फिर पात्रों के प्रत्यक्ष कथोपकथन और अभिनय से तथा चित्रों के कथोपकथन और अभिनय से मन पर जो प्रभाव पड़ता है उसमें अन्तर रहता ही है। जब पहले-पहल, चलते-फिरते चित्र निकले थे तभी

लोग यह समझने लगे थे कि नाटक का युग समाप्त हो गया, पर नवीनता का कौतूहल दूर होते ही फिर नाटकों की आवश्यकता जान पड़ने लगी। यही बात बोलनेवाले चित्रों के लिए भी होगी। अमेरिका में जहाँ बोलनेवाला सिनेमा उन्नति की चरम सीमा को पहुँच चुका है, वहाँ पुनः नाटकों का खेलना आरम्भ हो गया है और जनता फिर से नाटकों को चाव से देखने लगी है। एक बात और है—नाटक और सिनेमा का कहीं-कहीं सुन्दर मिश्रण भी हो सकता है। जैसे युद्ध, चुनाव, मेले इत्यादि के दृश्य यदि नाटकों में भी सिनेमा के द्वारा दिखाये जावें तो कहीं अधिक स्वाभाविक दिख पड़ेंगे और उनसे मन पर प्रभाव भी अधिक पड़ेगा। युद्ध की सेनाएँ और लड़ाई, चुनाव, मेले आदि की सवारियाँ और चहल-पहल रंगभूमि में उतनी अच्छी तरह नहीं दिखाई जा सकतीं जितनी सिनेमा में। यदि कुछ पात्रों के मुख से उनका वर्णन कराया जाय, जो बहुधा किया भी जाता है, तो मन पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता; अतः नाटक के साथ ही सिनेमा-प्रयोग की योजना एवं ऐसे अवसरों पर नाटक के बीच-बीच में पर्दे के स्थान पर [illegible] लिए १०-१०, २०-२० मिनटों तक [illegible] सिनेमा द्वारा दिखाने का प्रबंध अवश्य ही सफल हो सकता है। [illegible] ने यह प्रयत्न किया भी था और यह सफल भी हुआ था, परन्तु [illegible] मालूम है किन्हीं [illegible] से यह प्रयत्न [illegible] हुआ।

यह भी पढ़िए

महाकोशल-साहित्य-माला, मध्यप्रान्त की एकमात्र पुस्तक-प्रकाशन-संस्था है। इस माला से मध्यप्रान्त के माननीय नेता सेठ गोविन्ददास-कृत 'कर्तव्य', 'हर्ष', 'प्रकाश' तथा 'स्पर्द्धा' नामक चार नाटक प्रकाशित हो चुके हैं। इस विद्वान् नाटककार के अन्य मौलिक नाटक भी इस माला से क्रमशः प्रकाशित होते रहेंगे। जो नाटक प्रकाशित हो चुके हैं, निकट भविष्य में उनके फिल्म बनाने की योजना भी की जा रही है। इस प्रकार माला का साहित्य पठित और अपठित दोनों प्रकार के व्यक्तियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा। माला के ग्रन्थों की छपाई-सफ़ाई तथा गेटप कितना मनोमोहक और सुन्दर है, यह, माला का कोई भी ग्रन्थ उठाकर देखने से आपको ज्ञात हो सकता है। मध्यप्रान्त के अन्य विद्वानों के विचार-पूर्ण ग्रन्थ-रत्न भी यह माला प्रकाशित करने का उद्योग कर रही है। यह माला हिन्दी-साहित्य की गौरव-गरिमा की अभिवृद्धि करने में कितनी संलग्न है, यह आप माला का सविस्तर सूचीपत्र बिना मूल्य मँगाकर मालूम कर सकते हैं।

प्रबन्धक

महाकोशल-साहित्य-मन्दिर

गोपालबाग, जबलपुर

कर्तव्य

पौराणिक

नाटक

नाटककार ने इस नाटक की रचना में दो चरित्र चुने हैं। पहला राम और दूसरा कृष्ण। वैष्णव सम्प्रदाय के आराध्यदेव राम का समग्र जीवन घटनासंकुल परिस्थितियों के अन्तरतम से प्रवाहित होकर, अन्त में, वेदना, असम्पूर्णता और हाहाकार की विभीषिका में किस प्रकार समाप्त हुआ एवं भगवतावतार कृष्ण का जीवन व्रज की गोपिकाओं के अमर और निश्छल प्रेम के अश्रुओं तथा मधुर सहवास से परिपालित होकर, महाभारत के भीषण द्वन्द्व तथा अनेक अन्य द्वन्द्वों के बीच से, अन्त में, परितोष तथा सुखैश्वर्य के अन्तिम स्वांस से किस प्रकार समाप्त हुआ है, यह लेखक की क़लम ने सफलता पूर्वक इस नाटक में अंकित कर दिया है। राम की सीता और कृष्ण की राधा के मानव चरित्रों ने राम और कृष्ण के चरित्रों को किस प्रकार देव-चरित्र बना दिया है, यह इस नाटक में पढ़िए। मानव-जीवन के कर्तव्य-पालन की गति की परिणति राम को दुख और कृष्ण को सुख देकर क्यों हुई, इस समस्या पर विचार करने के लिए, इस नाटक में आप को अनेक उदाहरण मिलेंगे। इन दो पावन चरित्रों से अपना और अपनी सन्तान का चरित्र-बल पावन बनाइए।

सादी प्रति का मूल्य १।।)

सजिल्द प्रति का मूल्य १।।।)

हर्ष ऐतिहासिक नाटक